# हिन्दी लोकगीत : स्वरूप एवं संवेदना

डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र

लोकगीत मानव– मन की दुःखात्मक एवं सुखात्मक अनुभूतियों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति हैं। जिनमें जीवन के विविध रंग मौजूद हैं। लोकगीतों की सहजता, सरलता और मौलिकता में सामूहिकता का भाव निहित है। इन लोकगीतों को समाज में विभिन्न अवसरों पर सदियों से मौखिक रूप में किसी न किसी रूप में गाया जा रहा है। जिनमें विभिन्नता में एकता का भाव निहित है। वस्तुतः ये गीत हमारी सांस्कृतिक अस्मिता एवं सामाजिक सदभाव को बनाए रखते हुए मनोंरजन के साधन हुआ करते थे। इन्हें मनुष्य सुख–दुःख के क्षणों में गुनगुनाकर राहत की अनुभूति करता था। लोकगीतों का उद्‌गम कब और कैसे हुआ, यह अपने आप में एक शोध का विषय है, फिर भी ऐसा मानना है कि लोक गाथाएं ही कालान्तर में लोकगीतों के रूप में गाए जाने लगे। इन गाथाओं का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में पाया जाता है। ये परंपरागत रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरित होते चले गए। सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से लोक में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। पहले मनुष्य का जीवन प्रकृति से काफी करीब था। वह आडम्बर, दिखावा और कृत्रिमता से कोसों दूर रहता था। इसलिए उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में बनावटीपन नहीं था। उस युग की कविता में जंगल के फलों जैसी स्वाभाविकता आकाश जैसी स्वच्छंदता तथा चिड़ियों जैसी सरलता मौजूद थी। कालान्तर में बदले युग की हवा ने लोकगीतों को भी प्रदूषित किया। लिपि का विकास होने पर इन्हें लिपिबद्ध भी किया गया। लोकगीतों पर बहुत सारे शोध कार्य हो चुके हैं और आज भी हो रहे हैं लेकिन साहित्य में इसका स्थान गौण ही बना हुआ है। मीडिया के बढ़ते हुए प्रभाव से लोकगीतों की आत्मा को ठेस पहुंची है। दरअसल बिना लोक साहित्य के कोई भी साहित्य समृद्ध नहीं हो सकता। यह तो साहित्य की आधार भूमि है। इनमें जहां एक ओर प्रेम, मस्ती, उन्माद, शृंगार की भाव विह्वलता और अपनी माटी की सोंधी महक है तो वहीं दूसरी ओर जीवन की कचोट एवं मार्मिक वेदना भी छिपी हुई है। हमारे देश में लोकगीतों की अपनी–अपनी संस्कृति के साथ अनूठी इन्द्रधनुषी छटा बिखरी हुई है, जिसमें हम लोकजीवन की संस्कृति में गहराई तक झांक सकते हैं।

लोकगीतों की परंपरा वेदों के पूर्व से चली आ रही है। कालान्तर में मानव जीवन के विविध संस्कारों, खेत–खलिहानों, ऋतुओं, राजाओं–महाराजाओं के प्रशस्ति आदि को लेकर भारतीय भाषाओं की बोलियों में लोकगीतों की स्वस्थ परंपरा मिलती है। लोकगीत सदियों से आमजीवन की धरोहर रहे हैं। समृद्ध संस्कृत साहित्य में लोकगीत नहीं मिलते क्योंकि यह एक विशिष्ट समाज की भाषा रही है जिसे कि हम हर युग के गांवों में देख सकते हैं। ये गीत बोलचाल की भाषा में गाए जाते थे, जिनका कि आभिजात्य जीवन से सरोकार नहीं होता था। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में इनका अपना अलग स्वरूप रहा होगा।

भक्तिकाल में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, रीतिकाल के कवियों एवं आगे चलकर आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चंद्र से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शरदजोशी आदि की रचनाओं में लोकगीतों के विविध रूपों की झांकी देखने को मिलती है। आजादी के आंदोलनों में लोकगीतों की अहम् भूमिका रही है। मध्यकाल से आधुनिक काल के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो हम इसके परिवर्तित रूप का जायजा ले सकते हैं। कबीर ने जहां अपनी आध्यात्मिक चेतना उत्तर भारत में विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीत 'गारी' के माध्यम से व्यक्त की है, वहीं पर तुलसी के 'रामलाला नहछू' एवं भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' नामक रचना में 'सोहर' की सफल अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

**दुलहनीं गावहु मंगलचार।**

**हम घरि आये हो राजा राम भरतार।।**

**तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंचतत बराती।।**

**रामदेव मोरे पांहुनै आये, मैं जोबन मैं माती।।**

**सरीर सरोवर बेदी करिहूं, ब्रह्मा बेद उचार।**

**रामदेव संगि भांवरि लैहूं, धनि धनि भाग हमार।।**

**सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठयासी।**

**कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी।।**

कबीर ने जहां अपनी आध्यात्मिक चेतना विवाह गीत में अन्योक्ति के माध्यम के व्यक्त की है वहीं पर तुलसीदास ने 'रामलला नहछू' में लोकजीवन की अद्‌भुत झांकी प्रस्तुत की है :

**बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।**

**बिहंसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।।**

**अहिरिनि हाथ दहेंडि सगुन लेइ आवइ हो।**

**उनरत जोबनु देखि नृपतिः मन भावइ हो।।**

भारतेन्दु ने पराधीन भारत की दशा को जनता की भाषा में लोकजीवन की शैली में व्यक्त किया ताकि जनता उनकी भावनाओं को समझ सके।

**आवहु सब मिलि रोवहुं भारतवासी। भारत दुर्दशा देखि न जाती।।**

आजादी के बाद जब चीन और पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो **'आज हिमालय तोहैं पुकारै, सुन लेया वीरों कान लगाय'** और **'जागो जागो के सपुतवा, तो तेसवा पुकारै हों। अरे! चीनियन तो किहे हैं चढ़ैया, हिमालय तोरि डारै हो'** क्रमशः आल्हा और सोहर जैसे लोकगीतों से जनमानस के अन्दर देश भक्ति का भाव फूंका गया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार **लोकगीतों या 'ग्राम्यगीतों' का महत्त्व उनके काव्य सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है, एक विशाल सभ्यता का उद्‌घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूब गई है, या गलत समझ ली गई है...। ग्राम्यगीत आर्यों के आगमन के पूर्व की सभ्यता के वेद हैं, श्रुति हैं। वेद भी तो आंरभिक युग में श्रुति कहलाते थे। जो पहले सुन–सुनकर याद किए जाते थे। बाद में उन्होंने लिपि का रूप धारण किया, पर हमारे ग्राम्यगीत अभी भी श्रुति ही हैं।**

वस्तुतः इन लोकगीतों में हमारे जीवन के रीति–रिवाज, रोमानी प्रेमभाव, उत्कट विरहानुभूति, हास्य–व्यंग्य के छींटे आदि पहाड़ी झरनों के तलछट की भांति साफ और स्वच्छ होते थे। उसमें आज का बनावटीपन और खोखला संस्कार नहीं होता था।

डॉ. सत्येन्द्र ने लिखा है– **जब लोकमानस आनन्द से गदगद हो उठता है या वेदना का स्रोत प्रवाहित होने लगता है तो स्वतःप्रेरित भावलहरियां लोकमानस से प्रवाहित होने लगती हैं–ये ही लहरियां लोकगीत नाम से अभिहित होती हैं। न इनकी रचना का कोई स्वरूप है, न नियमावली। न ही लोगीतों के मूल रचयिता का पता है।**

लोकगीत भारतीय जनमानस में सरिता की भांति प्रवहमान रहा है और आज भी है। भाषा व्याकरण के नियम यहाँ लागू नहीं होते। इससे इसकी आत्मा का ठेस पहुंचती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द लोक है, जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। वैसे भी द्विवेदी की चिंता समाज के पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। वस्तुतः इसका संबंध कभी भी आभिजात्य वर्ग से नहीं रहा है। लोकगीत आम आदमी के सुख–दुःख जीवन की धरोहर हैं। इससे उन्हें अपने हताश और निराश जीवन में ताजगी और ऊर्जा मिलती है। अपने भावों को अपनी वाणी में कहने का सुख कुछ अलग ही होता है। ये गीत मुक्त कण्ठ से, मुक्त आकाश के नीचे, मौज और मस्ती से गाए जाते हैं। इनके अंदर प्रेम की कसक और वेदना का मर्म छुपा होता है। गेयता ओर संगीतात्मकता इनका प्रधान गुण है। ये मुक्तक और खण्डकाव्य दोनों रूपों में पाए जाते हैं। कथात्मक गीतों में कौतूहलता और उत्सुकता अजीब ढंग की होती है जोकि श्रोताओं को बांधे रहती है। इसी प्रकार मुक्तक गीतों में भावप्रवणता का गुण विद्यमान होता है। पहले तो घर–गृहस्थी, खेती–बारी का कार्य करते हुए गाँव के नारी–पुरूष अपनी लोकगीतों की दुनिश में मग्न रहा करते थे। आज तो जैसे लोकगीतों को लकवा मार गया हो।

जहाँ देवेन्द्र सत्यार्थी ने लिखा है कि **लोकगीत का मूल जातीय संगीत में है वहीं पर वासुदेव शरण अग्रवाल का मानना है' लोकगीत किसी संस्कृति के मुंह बोलते चित्र हैं। लोकगीत को विमिन्न विद्वानों ने जातीय संगीत, आदिम गीत, संस्कृति के मुंह बोलते चित्र, अनायास फूट पड़ने वाले मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति, जीवन विकास के इतिहास आदि कहा है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी कविता कौमुदी–भाग 5 में लिखा है 'ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है। छंद नहीं केवल लय है। लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। ग्रामीण मनुष्य के स्त्री–पुरुषों के मध्य में ह्रदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रक्रति के वे गान ग्रामगीत हैं। पाश्चात्य विचारक ग्रिमम ने कहा कि 'लोकगीत स्वतः उदभूत है।' पेरसी ने इसे आदिम मानव के उल्लासमय संगीत कहा है।**

लोक साहित्य के विद्वान डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी लोकसाहित्य की भूमिका पुस्तक में लोकगीतों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें संस्कार गीत, ऋतुगीत, ब्रज के गीत, जाति के गीत, क्रिया संबंधी गीत, विविध गीत नाम दिए। इनके अंतर्गत आने वाले कुल 32 गीत हैं। इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी ने लोकगीतों को 28 वर्गों में विभक्त किया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

विवाह गीत– **घुमि घुमि बाबा रे तुलसी लगावेले, आमा लगावेलि अकेल जी।**
**जांहावां के तुलसी तांहावां चलि जइहे, रहि जइहे आमा अकेल जी।।**
**केनिया से आवेले काली रे बदरिया, धिया भ इली बिआहन जोग जी।।**

इस विवहा गीत में मां अपनी पुत्री के वियोग को लेकर दुःखी है क्यों कि वह विवाह के योग्य हो गई है और शादी होने के बाद अपने ससुराल चली जाएगी।

**बारहमासा गीत– प्रथम मास आसाढ हे सखी, साजि चलले जलधार हे।**
**सबके बलमुआ, राम घर–घर अ इले, हमरो बलम परदेस हे।।**
**सावन हे सखि सरब सोहावन, सिमझिम बरसले देव हे।**
**बारि उमिरि परदेस बालम, जीअबो कबना अधार हे।।**

प्रस्तुत लोकगीत में नायिका का अपने प्रियतम के प्रति अपार प्रेम और घर–गृहस्थी की चिंता का अदभुत रूप अभिव्यक्त हुआ है। यहां विरहिणी की संवेदना देखते ही बनती है। उत्तर भारत में पहले लड़की की शादी कम उम्र में ही हो जाती थी, इसलिए वह शादी के बाद तुरंत ससुराल नहीं जाती थी। कुछ समय

बीत जाने के बाद उसका गौना दिया जाता था। यह प्रथा आज भी है। आवागमन एवं संचार माध्यम की सुविधा तथा अन्य कई कारणों से हमारी मानवीय संवेदनाओं का क्षरण हुआ है। आपस के संबंधों की प्रगाढ़ता भी ढीली हुई है। यहां एक गीत गवना के बाद लड़की के ससुराल जाने से संबंधित है।

**बाबा के रोंवले गंगा बढी ल इली, आमा के रोवले अन्हार ए।।**

**आरे भइया के रोवे चरन, धोतो भींजे, भऊजी नयनवों न लोंर।।**

**किया तोहरी भऊजी नून तेल छेकली, किया कोठी लवली पेहान।।**

**नाही तुहुं ननदी नून तेल छेकलू, नाही कोठी लवलू पेहान।।**

**नाही तुहूं ननदी रसोइया झांकि, बतिये बैरनी भइल तोहार।।**

लड़की के ससुराल जाते समय उसका पिता इतना रोया कि गंगा में बाढ़ आ गई और माता के रोने से अंधेरा छा गया। भाई के रोने से पैर तक धोती भींग गई परंतु भावज की आँखों में आँसू भी नहीं दिखाई दिए। तब लड़की ने भावज से पूछा कि ऐ भावज! क्या मैंने तेरा नमक, तेल रोक रखा था और क्या अन्न का भण्डार बंद कर दिया था अर्थात तुम्हें खाने को नहीं देती थी। भावज इन सब बातों को नकारते हुए कहा कि केवल तुम्हारे कठोर बचन ही मेरे बैरी हो गए। इस गीत में करूण रस, माता–पिता का पुत्री के प्रति अगाध प्रेम, ननद भौजाई की कटुता की पारिवारिक संस्कृति एवं अतिशयोक्ति अंलकार की अदभुत छठा विद्यमान है।

इसी प्रकार लोकजीवन में जांत के गीत, शीतला माता के गीत, खेत–खलिहान के गीत, धान रोपाई के गीत, मेले के गीत, तीज–त्यौहारों के गीत, जनेऊ गीत, विवाह के पहले एवं बाद के विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले गीत आदि नाना प्रकार के लोकगीतों से लोकजीवन का संसार भरा–पूरा है। इन गीतों का अपना सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व और कई नवीन अर्थछवियां हैं। जोकि हमारी सुदृढ़ भारतीय परंपरा को पुष्ट और समृद्ध करते हैं।

आज लोक गीतों का मीडियाकंरण होता जा रहा है। जिससे उसकी स्वाभाविकता एवं मौलिकता मलिन होती जा रही है। यह होना भी स्वाभाविक है क्योंकि हमारे आचार–विचार, रहन–सहन, खानपान, सोच समझ एवं पूरी जीवन शैली ही प्रदूषित हो गई है। चमक दमक संस्कृति की आंधी में लोकगीतों की पहचान गायब होती जा रही है। भारत की विविध संस्कृति में लोकगीतों के अपने अलग–अलग रंग होते हुए उनमें कई मायनों में समानता भी पाई जाती है। यदि हमें अपने मूल भारत की आत्मा के दर्शन करना है तो निश्चित रूप से लोकगीतों की पड़ताल करनी होगी। आज के दमघोटू परिवेश, टूटते–बिखरते हुए मानवीय मूल्यों, यंत्रवत होती हुई स्वार्थ से बजबजाती हुई जिन्दगी, पूंजी की ताण्डव लीला से चरमराती हुई व्यवस्था आदि से निजात पाने के लिए लोकजीवन की गंगा में स्नान करना ही होगा। जहां चंदन की शीतलता, कल्पवृक्ष की उदारता, दधीच की दानशीलता, यशोदा के हृदय की वत्सलता, शबरी की भक्तिभावना, सुदामा की मित्रता, स्वामी विवेकानंद की कर्मशीलता, मदरटेरेसा, बाबा आम्टे का सेवा भाव, आदि विद्यमन है। अब तो लोकगीतों की सरलता, सहजता, स्वच्छंदता, पवित्रता आदि को बचाए रखना चुनौती भरा कार्य हो गया है। वस्तुतः लोकगीतों में भारत की आत्मा निवास करती है।

**हिन्दी विभाग**

**गोवा विश्वविद्यालय**

**गोवा – 403108**